जैन साधना-पद्धति में ध्यान

☐ **कन्हैयालाल गौड़**, एम. ए., साहित्यरत्न

अनादिकाल से आज तक विश्व में जितनी भी वन्दनीय एवं पूजनीय महान् आत्माएँ हुई हैं, उन सभी ने अपनी दृढ़ साधना के बल पर ही उच्चता प्राप्त कर अपनी आत्मा का विकास किया है और आज भी साधक अपनी दृढ़ साधना के द्वारा आत्मा का विकास कर रहे हैं।

जब साधक के जीवन का आध्यात्मिक विकास हो जाता है तो उसके जीवन की साधना तेजस्वी होती है, उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, दया, क्षमादि धर्म आदि सब आत्मिक गुणों में आत्मिक विवेक सहज, अकृत्रिम, तेजस्वी, सुदृढ़ एवं अविचल हो जाता है।

साधना-पथ पर पैर रखने पर कदम-कदम पर कष्टों और संकटों का सामना करना पड़ता है। साधक की तप-साधना कर्मक्षय के लिये होती है। साधना की तीन श्रेणियाँ हैं—(१) ज्ञान (२) तप और (३) चारित्र।

ज्ञान मनुष्य में मोक्ष और संसार संबंधी विवेक को जागृत कर देता है, प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ भान करा देता है, जिससे मनुष्य विवेक से हेय मार्ग को त्याग कर उपादेय मार्ग को अपना सकता है। इसीलिये भगवान् महावीर का कथन है—"ज्ञान समस्त वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए है, अज्ञान और मोह को मिटाने के लिये है।"

जैनधर्म अन्तरंग की साधना पर विशेष बल देता है, बाह्य साधना पर नहीं। साधना किसी भी तप-जप की हो अथवा व्रत-नियम की हो, वह हृदय की पवित्रता से ही सिद्ध होती है। यदि साधना प्रारंभ करने से पूर्व साधक का मन पवित्र नहीं है, कलुषित है, विकारों से ओतप्रोत है, तो वह क्षम्य नहीं। संयमव्रत ग्रहण करने से मन में पवित्रता आती है। यदि साधक संयमव्रत को ग्रहण कर साधना करे तो उस साधना में बल आ जाता है। साधक का मन भी पवित्र विचार और स्पष्ट चिन्तन देता रहता है।

साधना में ध्यान का लक्षण

साधना में ध्यान का विशेष महत्त्व है। यदि साधना में चित्त एकाग्र नहीं है तो वह साधना निष्फल जायगी। अतः साधक को साधना करते समय चित्त को एकाग्र रखना आवश्यक है। चित को एकाग्र रखना ही ध्यान है। अथवा अपने लक्ष्य या ध्येय की ओर मन को एकाग्र करने को ही ध्यान कहा है। अपने लक्ष्य में चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है।

एक ही वस्तु में अंतर्मुहूर्तमात्र जो चित का अवस्थान-एकाग्रता है, वह छाद्मस्थिक का ध्यान और योग का निरोध जिनेश्वरों का ध्यान है।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा रचित योगशास्त्र में ध्यान के लक्षण को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि धारणा में जहाँ चित्त को धारण किया गया है वहीं पर जो प्रत्यय की एकाग्रता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विसदृश परिणाम को छोड़ कर जिसे धारणा में आलम्बनभूत कहा गया है, उसी के आलम्बन रूप से जो निरन्तर ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे ध्यान कहते हैं।[1] आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने ध्यान का लक्षण स्पष्ट करते हुये बताया—शुभ प्रतीकों पर एकाग्रता अथवा आलम्बन पर चित्त का स्थिरीकरण मनीषी-ज्ञानी जनों द्वारा ध्यान कहा जाता है। वह दीपक की स्थिर लौ के समान ज्योतिर्मय होता है, सूक्ष्म तथा अन्तःप्रविष्ट चिन्तन से समायुक्त होता है।

ध्यान के फलस्वरूप वशित्व-आत्मवशता, आत्म-नियंत्रण या जितेन्द्रियता अथवा सर्वत्र प्रभविष्णुता, सब पर अक्षुण्ण प्रभावशीलता, मानसिक स्थिरता तथा संसारानुबन्ध—भव-परंपरा का उच्छेद जन्म-मरण से उन्मुक्त भावसिद्ध होता है।[2]

आचार्य हेमचन्द्राचार्य रचित योगशास्त्र में निर्दिष्ट किया है—समत्व का अवलम्बन लेने के पश्चात् योगी को ध्यान का आश्रय लेना चाहिये। समभाव की प्राप्ति के बिना ध्यान के प्रारम्भ करने पर अपनी आत्मा विडम्बित होती है। क्योंकि बिना समत्व के ध्यान में भली-भाँति प्रवेश नहीं हो सकता।[3] महर्षि कपिलमुनि द्वारा लिखित सांख्यसूत्र में राग के विनाश को और निर्विषय मन को ध्यान कहा गया है।[4] विष्णुपुराण में ध्यान का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है—अन्य विषयों की ओर से निस्पृह होकर परमात्मस्वरूप को विषय करने वाले ज्ञान की एकाग्रता सम्बन्धी परम्परा को ध्यान कहा जाता है। यह यम, नियमादि प्रथम छह योगांगों से सिद्ध किया गया है।[5] ध्यान अनुभव की ओर जाने वाला मार्ग है। ध्यान की प्रक्रिया में दो प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं—आकर्षण, विकर्षण। विकर्षण लौकिकता से और आकर्षण अलौकिकता के प्रति यानी आत्मस्वरूप के प्रति। यानी इस प्रक्रिया में हम पुद्गल से जीव का जो प्रगाढ़ आश्लेष है, उसे सम्यग्ज्ञान की प्रखरता के औजार से तोड़ने का प्रयत्न करते हैं, साधन अन्तःज्ञान ही होता है, ध्यान मात्र उसे प्रखरता/तीव्रता/तीक्ष्णता प्रदान करता है। कहें हम कि ज्ञान, ध्यान पर शान चढ़ाता जाता है और ज्यों-ज्यों हम प्रखर होते हैं, उक्त श्लेष ढीला पड़ता जाता है। ध्यान में संतुलन, समत्व और सम्यक्त्व का शीर्ष महत्त्व है।[6] तत्त्वार्थसूत्र में अनेक अर्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के निरोध को, अन्य विषय की ओर से हटा कर उसे किसी एक ही वस्तु में नियंत्रित करने को ध्यान कहा है। अथवा उत्तम (प्रथम तीन) संहनन वाले जीव का किसी एक विषय पर एकाग्ररूप चिन्ता का निरोध ध्यान है।[7] तत्त्वार्थसूत्र के समान तत्त्वानुशासन में भी एकाग्र

---

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —योगसूत्र ३-२
२. जैन योगग्रन्थचतुष्टय, आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ. १८१-१८२ (हिन्दी अनुवाद)
३. समत्वमवलमब्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
बिना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते। —योगशास्त्र १०५-११२
४. रागोपहतिर्ध्यानम्। —सांख्यद., ३-३० एवं ६-२५
५. तद्रूप प्रत्ययैकाग्रय सन्ततिश्चान्य निःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥ —वि० प्र० ६-७-८९
६. तीर्थंकर मासिक, जैन-ध्यान-योग विशेषांक, अप्रेल—८३, पृष्ठ १०
७. उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥ —त० सूत्र० ९।२७

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तानिरोध को ध्यान का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है।[८] आचार्य अमितगति (प्रथम) विरचित योगसारप्रभृत में ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा है कि आत्मस्वरूप का प्ररूपक रत्नत्रयमय ध्यान किसी एक ही वस्तु में चित्त को स्थिर करने वाले सन्त के होता है, जो उसके कर्मक्षय को करता है। तत्त्वार्थाधिगम भाष्यानुसारिणी सिद्धसेनगणि विरचित टीका में आगमोक्त विधि के अनुसार वचन, काय और चित्त के निरोध को ध्यान कहा गया है।[९] आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान को सम्यग्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित कहा है।[१०] भगवती आराधना की विजयोदयाटीका में राग-द्वेष और मिथ्यात्व के सम्पर्क से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है। वहाँ आगे एकाग्र चिन्ता-निरोध को भी ध्यान कहा गया है। आदि पुराण में स्थिर अध्यवसान को—एक वस्तु का आलम्बन लेने वाले मन को ध्यान कहा गया है।[११]

ध्यान की आवश्यकता

कर्म का सर्वथा विलय होना मोक्ष है। यानी कर्म और दुःख के बन्धन से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है और आत्मा का भान हुए बिना उसका होना संभव नहीं है। चित्त की साम्यावस्था के बिना संयमी को भी आत्मा का भान होना सुलभ नहीं है, चित्त की साम्यावस्था भी मल और विक्षेप को दूर करने वाले शुभ ध्यान के बिना सर्वथा संभव नहीं है। इसलिए संयम-धारियों को मोक्षप्राप्ति के लिए परम्परा से धर्मध्यान और शुक्लध्यान का आश्रय लेना चाहिए।[१२]

शुभ ध्यान का फल आत्म-साक्षात्कार है और आत्म-साक्षात्कार मोक्ष का साधन है। इसलिए शास्त्रों में ध्यान की परमावश्यकता बतलाई है। जब तक चित्त ध्यान के द्वारा साम्यावस्था नहीं प्राप्त करता और साम्यावस्था के लिए चित्त के मलविक्षेप रूपी दोषों का नाश नहीं होता तब तक मुमुक्षु को आत्मा का भान नहीं होता।[१३] इसीलिए कहा है--जो कोई सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे वे सब शुभाशय वाले ध्यानतप के बल से ही सिद्धता प्राप्त करते हैं।[१४] निर्जरा करने में बाह्यतप से आभ्यान्तर तप श्रेष्ठ है, इसमें भी ध्यानतप

---

८. तत्त्वानुशासन—५६

९. ध्यानशतक तथा ध्यानस्तव प्रस्ता० पृ० २७ उद्धृत

१०. दंसण-णाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।—पंचा० का० १५२

११. भगवती आराधना विजयोदयाटीका—२१ व ७०

१२. आदिपुराण—२१-९

१३. मोक्षः कर्मक्षयात्मकः स च भवेन्नैवात्मभानं विना।
तम्दानं सुलभं भवे न यमिनां चित्तस्य साम्यं विना॥
साम्यं सिद्धयति नैव शुद्धिजनकं ध्यानं विना सर्वथा।
तस्माद् ध्यानयुगं श्रयेन्मुनिवरो धर्म्यं च शुक्लं पुनः॥ —कर्त्तव्यकौमुदी, २०१।५५४

१४. सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति यावन्तः केऽपि मानवाः।
ध्यानतपोबलेनैव ते सर्वेऽपि शुभशयाः॥ —वही ५५५ पृ०

महासतीजी अपनी सुशिष्याओं श्री प्रतिभा जी एवं श्री सुप्रभा जी के साथ ध्यान योग में लीन। उदयमंदिर, जोधपुर सं. २०३७

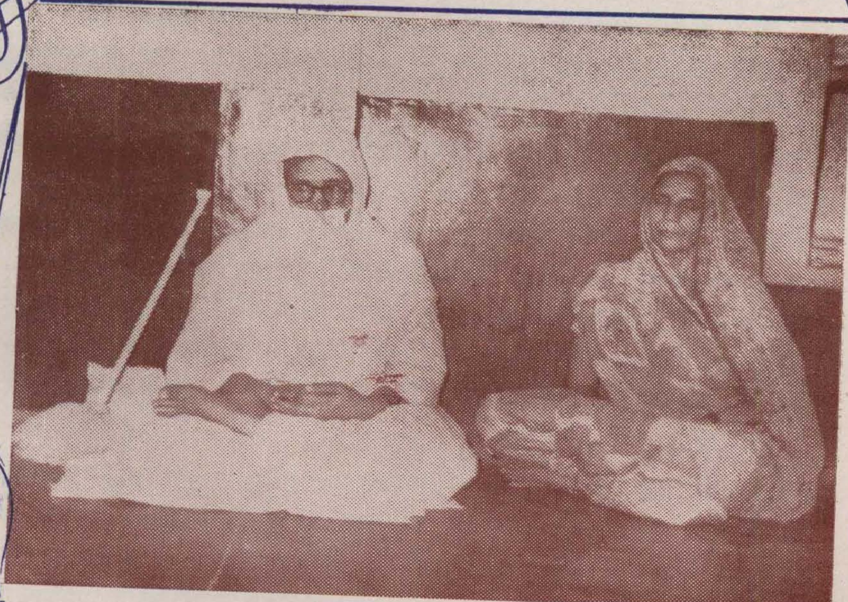

परम साधिका श्रीमती इन्दर बाई भण्डारी महासती जी के साथ-ध्यान में मग्न।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकछत्र है, चक्रवर्ती है, मुनिगण ऐसा कहते हैं।[१५] ध्यान के बिना आत्मा का भान नहीं होता और केवल शुभध्यान से ही आत्मभान होने पर संसार तर जाने के उदाहरण मिलते हैं। मुंडकोपनिषद् में भी कहा गया है—'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' अर्थात् ध्यान करने वाला पुरुष ही मन शुद्ध होने पर परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। 'ध्यान-बिन्दु' उपनिषद् में कहा गया है यदि पर्वत के समान ऊँचे और अनेक योजन तक विस्तार वाले पाप हों तो भी ब्रह्म का ध्यान करने से उन सब पापों का भेदन हो जाता है, अन्य किसी भी उपाय से नहीं होता।

ध्यान का महत्त्व

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख का इच्छुक है, दुःख कोई नहीं चाहता है। पर वह सुख क्या है और कहाँ है और उसके प्राप्त करने के उपाय क्या हैं? जो वस्तुतः सुख-दुःख के कारण नहीं हैं उन बाह्य पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना करके राग-द्वेष व मोह के वशीभूत होते हुए कर्म से सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार कर्मबन्धन में बंधकर वे सुख के स्थान में दुःख ही अनुभव किया करते हैं। अज्ञानी प्राणी जिसे सुख मानता है वह यथार्थ में सुख नहीं, पर सुख का आभास मात्र है। ऐसे इन्द्रियजनित क्षणिक सुख के विषय में कहा गया है—वह काल्पनिक सुख प्रथम तो सातावेदनीय आदि पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त होता है, अतः पराधीन है। दूसरे पुण्यकर्म के संयोग से यदि वह प्राप्त भी हुआ तो वह जब तक पुण्य का उदय है, तभी तक संभव है। तीसरे उसकी उत्पत्ति दुःखों से व्यवहित है। उस सुख के पश्चात् पुनः अनिवार्य दुःख प्राप्त होने वाला है। कारण यह कि पुण्यकर्म के क्षीण हो जाने पर दुःख के कारणभूत पाप का उदय अवश्यंभावी है। इसलिए ऐसे दुःखमिश्रित सुख को अश्रद्धेय कहा गया है।

ध्यान तप का प्रमुख कारण है, वह तप संवर व निर्जरा का कारण है तथा वे संवर व निर्जरा मुक्ति के कारण हैं। इस प्रकार परम्परा से मुक्ति का कारण ध्यान ही है। जिस प्रकार अग्नि चिरसंचित ईंधन को भस्मसात् कर देती है उसी प्रकार ध्यान चिरसंचित कर्म रूप ईंधन को भस्मसात् कर देता है। अथवा जिस प्रकार वायु के आघात से मेघों का समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है उसी प्रकार ध्यान रूप वायु के आघात से कर्मरूप मेघ-समूह क्षण भर में विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं ध्यान के प्रभाव से इस लोक में मानसिक और शारीरिक दुःखों से भी संतप्त नहीं होता। इस प्रकार ध्यान में अपूर्व सामर्थ्य है।

ध्यान पर आरूढ़ हुआ ध्याता चूंकि इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष और मोह से रहित हो जाता है, इसलिए उसके जहाँ नवीन कर्मों के आगमन का निरोध होता है वहाँ ध्यान से उद्दीप्त तप के प्रभाव से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा भी होती है। इस प्रकार वह ध्यान परम्परा से निर्वाण का कारण है।[१६]

१५. निर्जराकरणे बाह्याच्छ्रेष्ठमाभ्यन्तरं तपः।
तत्राप्येकातपत्रत्वं ध्यानस्य मुनयो जगुः॥ —कर्त्तव्यकौमुदी पृ० ५५५

१६. ध्यानशतक तथा ध्यानस्तव, प्रस्तावना पृ० १०-११

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान के योग्य स्थान

ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान उद्यान, कदलीगृह, पर्वत की गुफा, द्वीप, दो नदियों अथवा नदी और समुद्र का संगमस्थान, गाँव का एकान्त घर, पर्वत-शिखर, वृक्ष, समुद्रतट आदि स्थान जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक, बालक आदि का आवागमन न हो और किसी प्रकार का कोलाहल न होता हो, ऐसा शांत स्थान संयमी मुनियों के ध्यान की सिद्धि के लिए उत्तम है।

ध्यान का स्थान पवित्र और किसी भी प्रकार के उपद्रव से रहित होना चाहिए। कारण कि ऐसे अनुकूल स्थान के न मिलने से यदि प्रतिकूल स्थान पर ध्यान किया जाता है तो ध्यान भंग हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका में कहा है कि अति आहार, परिश्रम, अधिक बोलना, नियम का अनादर, मनुष्यों का समागम और चंचलता, इन छह दोषों से योग का विनाश होता है और उत्साह, साहस, धैर्य, तत्त्वज्ञान, निश्चय तथा जन-समागम का परित्याग, इन छह नियमों से योग की सिद्धि होती है। दुर्जन के समीप वास, अग्नि का तापना, स्त्री-संसर्ग, तीर्थयात्रागमन, प्रातःस्नान, उपवासादि और शरीर को क्लेश देने वाली क्रियायें—इन सबका योगाभ्यासकाल में त्याग कर देना चाहिए। सब ओर से समान, पवित्र, कंकड़, अग्नि, रेती, कोलाहल और जलाशय से रहित मन के अनुकूल, मच्छरों से रहित, अति-वायु से रहित गुफा आदि स्थान में साधक को योगाभ्यास करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार से अनुकूल और निरुपद्रव स्थान ध्यान के लिए पसन्द करना चाहिए।

ध्यान की स्थिति

ध्यान के लिए शास्त्र में पूर्व अथवा उत्तर दिशा को उत्तम माना गया है। अतः इन दिशाओं की ओर मुख करके यथोचित समय, योग्य आसन लगाकर शान्तमुख, विक्षेप और प्रमाद से रहित मन वाले मुनि को नासिका के अग्रभाग पर दोनों नेत्रों को अत्यन्त स्थिर करके ध्यान के लिए बैठना चाहिए।

ध्यान के लिए पूर्व या उत्तराभिमुख, योग्य समय और योग्य आसन लगाकर बैठना चाहिए। ध्यान में ध्याता का अपना मन विक्षेप तथा प्रमादयुक्त न बनने देना चाहिए। ध्यान-स्थिति के लक्षण आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, इन पाँचों का योग जब सुष्ठुरीति से होता है, तभी ध्यान सफल होता या यथार्थ ध्यान हुआ समझा जाता है।[१७]

ध्यान के प्रकार

ध्यान चार प्रकार का है—(१) आर्त्त (२) रौद्र (३) धर्म और (४) शुक्ल।[१८] इनमें आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के कारण हैं और धर्म तथा शुक्ल ये दो ध्यान मुक्ति के कारण हैं। विशेष रूप से आर्त्तध्यान को तिर्यंचगति का, रौद्रध्यान को नरकगति का, धर्मध्यान को देवगति का और शुक्लध्यान को मुक्ति का कारण माना गया है।[१९]

---

१७. कर्त्तव्यकौमुदी—पृ० ५५७, ५५८, ५५९, ५६०

१८. आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। —त० सूत्र ९।२९

१९. परे मोक्षहेतु। —त० सूत्र ९।३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **आर्त्तध्यान**—अनिष्ट विषयों का संयोग होने पर उनके वियोग की जो चिन्ता होती है और उनका वियोग हो जाने पर भी जो भविष्य में उनके पुनः संयोग न होने की चिन्ता होती है, उसे आर्त्तध्यान माना गया है। रोगजनित पीड़ा के होने पर उसके वियोग की चिन्ता के साथ भविष्य में उसके पुनः संयोग न होने की जो चिन्ता होती है, उसे आर्त्तध्यान कहा गया है। यह दूसरे प्रकार का है। अभीष्ट विषयों का संयोग होने पर उनका भविष्य में कभी वियोग न होने विषयक और वर्तमान में यदि उनका संयोग नहीं है तो उनकी प्राप्ति किस प्रकार से हो इसके लिए भी जो चिन्ता होती है, उसे तीसरा आर्त्त-ध्यान माना जाता है। यदि संयम का परिपालन अथवा तपश्चरण आदि कुछ अनुष्ठान किया गया है तो उसके फलस्वरूप इन्द्र व चक्रवर्ती आदि की विभूतिविषयक प्रार्थना करना इसे चौथे आर्त्तध्यान का लक्षण कहा गया है। ध्यानशतक की तरह तत्त्वार्थसूत्र में भी अप्रिय वस्तु का संयोग हो जाने पर उसका वियोग होने के लिए पुनः पुनः विचार करना अनिष्ट-संयोग नामक प्रथम आर्त्तध्यान है।[20] वेदना—पीड़ा से छूटने के लिए जो चित्त की एकाग्रता होती है वह पीड़ा-चिंतन नामक दूसरा आर्त्तध्यान है।[21] इष्ट (प्रिय) वस्तु का वियोग हो जाने पर उसका संयोग होने के लिए पुनः पुनः विचार करना इष्टवियोग नामक तीसरा आर्त्तध्यान है।[22] तपश्चर्या आदि के फलस्वरूप परलोक में सांसारिक विषयों का संकल्प करना निदान नामक चौथा आर्त्तध्यान है।[23] ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान अविरत, देश-विरति और प्रमत्तसंयत जीवों को ही हुआ करते हैं।[24] आर्त्तध्यान का स्वरूप वर्णित करते हुए उसके फल, लेश्या, लिंग और स्वामियों का निर्देश किया गया है।

(२) **रौद्रध्यान**—हिंसा, असत्य, चोरी और विषयों की रक्षा के लिये सतत चिन्तन रौद्रध्यान है। यह अविरत और देशविरत जीवों के ही सम्भव है।[25] अथवा जिसका मन क्रोध व लोभ के वशीभूत होकर दूसरों की धन-सम्पत्ति आदि के अपहरण में लगा रहता है उसे रौद्रध्यान समझना चाहिये।

(३) **धर्मध्यान**—धर्मध्यान के कुल चार प्रकार हैं—(१) आज्ञा-विचय, (२) अपाय-विचय, (३) विपाक-विचय और (४) संस्थान-विचय। मन की एकाग्रता धर्मध्यान है।

आत्मा के उद्धार के लिये इसका चिन्तन किया जाय और इस पर मन को एकाग्र कर लिया जाय तब धर्मध्यान के प्रथम प्रकार 'आज्ञा-विचय' की निष्पत्ति होती है। राग, द्वेष और कषाय के दोषों से क्या-क्या हानियां होती हैं, जब इनका चिन्तन किया जाय और इन दोषों की शुद्धि के लिये दृढ़ विचार करते हुए उन पर मन को एकाग्र कर लिया जाय तो 'अपाय-विचय'—धर्मध्यान का दूसरा प्रकार सिद्ध होता है।

---

२०. आर्त्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय-स्मृतिसमन्वाहारः ॥ त. सू. ९।३१

२१. वेदनायाश्च ॥ त. सू. ९।३२

२२. विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥ त. सू. ९।३३

२३. निदानं च ॥ त. सू. ९।३४

२४. तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ त. सू. ९।३५

२५. हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ त. सू. ९।३६

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपाक-विचय और संस्थान-विचय विश्व की सर्व सम्पत्ति अथवा विपत्ति, सुख या दु:ख, संयोग या वियोग, पूर्व-जन्म के उपार्जित अपने पुण्य या पाप के ही फल हैं, जब यह विचार किया जाय और इस पर अपने मन को एकाग्र कर लिया जाय तब विपाक-विचय नामक धर्मध्यान के तीसरे प्रकार की सिद्धि होती है और जब इस लोक-जगत् के नख से शिख तक के आकार और उसमें जीव का जाना और आना—जन्म और मरण अथवा परिभ्रमण का अपने एकाग्र हुए निर्मल मन में चिन्तन किया जाय, तो संस्थान-विचय नामक धर्मध्यान का चौथा प्रकार सिद्ध होता है। आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य कहते—

नानाद्रव्यगतानन्तपर्याय-परिवर्तनात् ।
सदासक्तं मनो नैव रागाद्याकुलतां व्रजेत् ॥

अर्थात् इस लोकस्वरूप पर विचार करने से, द्रव्यों के अनन्त पर्यायों के परावर्तन करने से, निरंतर उसमें आसक्त रहने वाला मन रागादि की आकुलता नहीं प्राप्त करता। इस प्रकार धर्मध्यान के चारों प्रकार आत्मा के निर्मल करने में साधन रूप हैं।

धर्मध्यान के आलम्बन और भावना

धर्मध्यानरूपी पर्वत पर चढ़ने के लिये शास्त्र में चार प्रकार के आलम्बन—सहारे—बताये गये हैं—(१) आध्यात्मिक और (२) तात्त्विक शास्त्रों का पठन, परियट्टणा—मनन-करने योग्य विषय पर ऊहापोह करना और अभ्यस्त तत्त्वों पर कथा कहना। यह चार आलम्बन ध्यान के इच्छुक को ग्रहण करना चाहिए। ध्यान की विशुद्धि के लिए अनित्य भावना, अशरण भावना, संसार भावना और एकत्व भावना, यह चार भावनायें तब तक करते रहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रुचि उत्पन्न न हो जाय।[२६]

ध्येय के चार प्रकार

ध्यान की विधि में ध्येय के चार प्रकार शास्त्रों में मिलते हैं—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इनमें पार्थिवी आदि धारणा के रूप में एकाग्रता से आत्मा का चिन्तन किया जाय, उसे ध्येय के चार प्रकारों में से प्रथम **पिण्डस्थ ध्येय** कहते हैं।

पदस्थ ध्येय—नाभि में सोलह पँखुड़ियों वाले, चित्त में चौबीस पँखुड़ियों वाले और मुख में आठ पँखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके, उस पर प्रत्येक पँखुड़ी पर कोई अक्षर बनाकर, एकाग्रतापूर्वक उसका या पंच परमेष्ठि मंत्र के शब्दों का एकाग्र मन से स्थिरता-पूर्वक चिंतन करने को पदस्थ ध्येय अथवा ध्यान कहते हैं।

रूपस्थ और रूपातीत—भगवान् महावीर की शान्त अवस्था का निर्मल स्वरूप, स्थिर और एकाग्र चित्त में स्थापित करके अति निर्मलता से समय निर्धारित कर उसका चिन्तन किया जाय, तो वह रूपस्थ ध्येय कहलाता है।

---

२६. धर्मध्याननगाधिरोहणकृते शास्त्रोक्तमालंबनं ।
ग्राह्यं वाचनप्रच्छनोहन कथेत्येवं चतुर्भेदकम् ॥
संसाराशरणेकता क्षणिकता रूपाश्चतुर्भावना ।
भाव्या-ध्यानविशुद्धये समुदियाद्यावत्प्रकृष्टा रुचिः ॥ —कर्त्तव्यकौमुदी ५६७।२०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से अतीत हुए निरंजन निराकार निर्मल सिद्ध भगवान् का आश्रय लेकर उनके साथ अपनी आत्मा के ऐक्य का अपने हृदय में एकाग्रतापूर्वक चिन्तन किया जाय तो उसे रूपातीत ध्येय कहते हैं।[२७]

पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और आकाश—यह पाँच तत्त्व हैं। इन पाँचों तत्त्वों का प्रत्येक पदार्थ पिण्ड बना है। इस पंचतत्त्व का ध्यान ही पिण्डस्थ ध्यान है।

धर्मध्यान की प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए निम्न बातों की ओर साधक का ध्यान आकृष्ट किया गया है— (१) ध्यान की भावनाओं (२) देश (३) काल (४) आसन-विशेष (५) आलम्बन (६) क्रम (७) ध्यातव्य (८) ध्याता (९) अनुप्रेक्षा (१०) लेश्या (११) लिंग और (१२) फल, इनको जानकर धर्मध्यान करना चाहिये। तत्पश्चात् धर्मध्यान का अभ्यास कर लेने पर शुक्लध्यान करना चाहिये।[२८]

धर्मध्यान का फल—प्राचीन ऋषि-मुनियों का यह कथन है कि यह धर्मध्यान वैराग्य को सजीव करने वाला है, लेश्या की शुद्धि करने वाला है, अशुभ कर्मों के ईंधन को जलाकर भस्म करने वाला है, काम-विकार रूपी अग्नि को बुझाने के लिये अंभोधर—मेघ के समान है, प्रथम आलम्बन सहित है, तो भी निरन्तर के अभ्यास से ज्यों-ज्यों विशुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों ध्यान को आलम्बनरहित और निर्मल शुक्लध्यान की सीमा में क्रमशः पहुँचा देता है।[२८]

आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य धर्मध्यान के फल के विषय में कहते हैं—

अस्मिन्नितान्त वैराग्यव्यतिषङ्ग तरङ्गिते।
जायते देहिनां सौख्यं स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम् ॥

अर्थात् इस ध्यान में अत्यन्त वैराग्य रस के संयोग से तरंगित हुए योगियों को स्वतः अनुभव में आने वाला अतीन्द्रिय आत्मिक सुख प्राप्त होता है। यह आत्मिक सुख ही चित्त की राग-द्वेष रहित समस्थिति का पर्यायवाचक है। सालंब ध्यान में धर्मध्यान उच्च शिखर पर विराजमान है और निरालंब ध्यान में प्रवेश करने का वह अन्तिम सोपान है। योगिजन यह कहते हैं कि शुक्लध्यान के योग्य इस समय मनुष्यों का शारीरिक संगठन नहीं रह गया है। कारण कि शरीर के टुकड़े हो जाने पर भी चित्त की समस्थिति में क्षेप-विक्षेप उत्पन्न न हो, ऐसा शरीर संस्थान होना चाहिये और वह इस काल में नहीं होता; अतएव धर्मध्यान शुक्ल-ध्यान का प्रवेश मार्ग होने पर भी आधुनिक काल में धर्मध्यान ही सर्वथा उपयोगी और अभ्यास करने और ग्रहण करने योग्य ध्यान है। शास्त्रीय दृष्टि से शुक्लध्यान का स्पर्श कराने वाला धर्मध्यान ही है।

(४) शुक्लध्यान—जिस ध्यान में इन्द्रियों को विषय की समीपता प्राप्त होते हुये भी वैराग्य बल से चित्तवृत्ति बिल्कुल बहिर्मुख न हो, किसी शस्त्र से शरीर का छेदन करने अथवा काटने पर भी स्थिर हुआ चित्त तनिक भी न कम्पित हो, उस ध्यान को शुक्लध्यान कहा जाता है। इसके भी चार प्रकार हैं। यह ध्यान स्वरूपाभिमुख है और राग-द्वेष तथा कषाय का सर्वथा

२७. क० कौ०, पृ० ५७०-५७१
२८. ध्यानशतक, प्रस्ता० पृ० ५
क० कौ०, पृ० ५७८-५८०

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलय कराके साक्षात् परम-मोक्ष का देने वाला है।[२९]

शुक्लध्यान के चार प्रकारों में से प्रारम्भ के दो प्रकार श्रुत, शब्द और अर्थ तथा योग—मन, वचन, काय के व्यापार का आलम्बन करते हैं। यानी प्रथम के दो प्रकार सालम्बन हैं और अन्त के दो प्रकार निरालम्बन हैं। अर्थात् प्रथम प्रकार सवितर्क और सविचार है। वितर्क नाम श्रुत का है और विचार शब्द, अर्थ और योग के संक्रमण—परिवर्तन को कहते हैं। दूसरा प्रकार सवितर्क और अविचार है। इसमें श्रुत की एक ही अर्थ की एक ही पर्याय का एक योग द्वारा ध्यान होता है। ये दो प्रकार ८वें गुणस्थान से १२वें गुण स्थान तक होते हैं तथा तीसरा प्रकार १३वें गुणस्थान में और चौथा प्रकार चौदहवें गुणस्थान में होता है।

शब्द, अर्थ और योग का संक्रमण—शब्द, अर्थ और योग का आश्रय लेकर जिनेश्वरों ने तीन प्रकार का संक्रमण बतलाया है। एक शब्द की आलोचना करके दूसरे शब्द की ओर बढ़ना, शब्द-संक्रमण है। इसी प्रकार एक योग का आश्रय लेकर फिर दूसरे योग में प्रवेश करना योग का संक्रमण है और एक अर्थ का विचार करके दूसरे अर्थ की ओर जाना अर्थ-संक्रमण है। यानी शब्द-संक्रमण, योग-संक्रमण तथा अर्थ-संक्रमण यह तीन प्रकार के संक्रमण हैं। शुक्लध्यान के प्रकार में जो सविचार शब्द आता है, उसमें विचार शब्द उक्त संक्रमण के अर्थ में व्यवहार किया गया है। सविचार यानी संक्रमण-सहित यह अर्थ होता है।[३०]

शुक्लध्यान का दूसरा प्रकार—शुक्लध्यानी की जिस अवस्था में तीन योगों में से एक ही योग होता है, उस समय बहुत्व के अभाव से संक्रमण नहीं होता, इसलिए उस समय अविचार नामक शुक्लध्यान का दूसरा प्रकार संभव हो सकता है। इस अवस्था में मोहनीयकर्म का सर्वथा उच्छेद होने पर चारों घातिकर्मों का विलय हो जाता है और चौतीस अतिशयों के साथ निर्मल केवलज्ञान प्रकट होता है।[३१]

वीतराग को केवलज्ञान प्राप्त होने पर अपना निज का कल्याण तो हुआ, परन्तु जिन—तीर्थंकर नामकर्म के उदय और अनन्त भावदया के प्रवाह से जगत् का कल्याण करने की ओर अपने आप ही उनकी वृत्ति हो जाती है। इसलिए केवली भगवान् सत्य तत्त्वरूपी अमृत की वर्षा करके इस पृथ्वी को परम शीतल बना कर जगत् को मुक्ति का मार्ग दिखलाकर जगत्-सेवा करते हैं।

शुक्लध्यान का तीसरा प्रकार—जिस अवस्था में केवली भगवान् अन्त समय में स्थूल काययोग में रहकर वचनयोग और मनोयोग को सूक्ष्म बना लेते हैं और मन-वचन-योग में रहकर स्थूल काययोग को सूक्ष्म बना लेते हैं और उसमें रहकर भी मन-वचन-योग को रोकते हैं, उस समय केवल सूक्ष्म काय-योग की सूक्ष्म-क्रिया रहती है। इससे सूक्ष्म क्रिया नामक शुक्लध्यान का तीसरा प्रकार निष्पन्न होता है।

---

२९. क० कौ० ५८३।२११

३०. क० कौ० ५८६।२१२-२१३

३१. क० कौ० ५८९।२१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुक्लध्यान का चौथा प्रकार—अरिहन्त भगवान् जब मुक्तिपद में प्रयाण करते हैं तब सूक्ष्म काययोग का भी निरोध करके पाँच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने जितने समय तक मेरु पर्वत की तरह निश्चल अयोग अवस्था में—शैलेशी अवस्था में रहते हैं। यही व्युच्छिन्नक्रिय नामक ध्यान का चौथा प्रकार है। इसमें सकल अर्थों की समाप्ति हो जाती है और शिव पद प्राप्त हो जाता है।[32]

आलम्बन और भावना—संयमियों को शुक्लध्यान में बढ़ने के लिए क्षमा, निर्लोभता, ऋजुता—सरलता और मृदुता—यह चार आलम्बन बतलाये गये हैं। इसी प्रकार शुक्लध्यान की विशुद्धि के लिये पाप-मात्र अपायकारक—हानिकारक है, यह देह अशुभ—अशुचिमय है, यह जीव अनन्त पुद्गलपरावर्तन द्वारा संसार में भ्रमण करता है और जगत् नश्वर चलायमान है—यह चार भावनाएँ माननी चाहिये।[33]

दुष्करता—शुक्लध्यान की अवस्था प्राप्त करने के लिये आत्मा की पूर्ण दृढ़ता और आत्मा का अपरिमित वीर्य—सामर्थ्य चाहिये और अत्यन्त दृढ़ वैराग्य भाव चाहिये। इस समय यदि वह संभव न हो तो भावी की आशा रख कर तब तक शुक्लध्यान की भावना भानी चाहिये, जब तक कि अपरिमित वीर्य आदि साधन सामग्री पूर्णरूप में प्राप्त न हो जाये।[34]

आधुनिक समय के लिये धर्मध्यान ही इष्ट, शुभ है।

१७, लाला लाजपतराय मार्ग
उज्जैन (म. प्र.), ४५६००१

□□

---

३२. क. कौमुदी, ५९२।२१६-२१७
३३. क. कौमुदी, ५९४।२१८
३४. क. कौमुदी, ५९६।२१९

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org